

“जीवन—मूल्य एवं भारतीय समाज”

सहायक प्राध्यापक कान्ता शर्मा

(व्याख्याता, सौफट विजन कॉलेज, इन्दौर)

सारांश

जीवन— मूल्यों पर देश, काल, परिस्थिति तथा संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि अधिकांश जीवन मूल्य परिवर्तनशील होते हैं। फिर भी चूंकि हर प्रकार के तथा हर स्तर पर हुए परिवर्तन के पश्चात् भी मानव अन्ततः एवं मूलतः मानव ही रहता है, अतः मानवोचित जीवन—यापन की दृष्टि से कुछ जीवन मूल्य शाश्वत होते हैं। सार्थक मानवीय जीवन पद्धति हेतु आवश्यक ऐसे शाश्वत तथा सार्वभौमिक मूल्यों को ही ‘मानवीय मूल्य’ कहा जाता है। उदाहरणार्थ – मानव चूंकि बौद्धिक प्राणी है अतः ज्ञान की खोज स्वयं अपने आप में एक मानवीय मूल्य है। परिवर्तनशील जीवन मूल्यों के संबंध में कुछ तथ्य ज्ञातव्य है। नये मूल्य मानव—चेतना द्वारा उतनी सहजता से ग्रहण नहीं किये जाते। जितनी सहजता से हम नये ज्ञान को ग्रहण करते हैं। यही कारण है कि भारतीय मानस विज्ञान के इस प्रगति—युग में वैज्ञानिक ज्ञान से चमत्कृत होते हुए भी अपने पारम्परिक मूल्यों की अवहेलना नहीं कर पा रहे हैं। अतः प्राचीन मूल्यों के विस्थापन तथा नये मूल्यों की स्वीकृति की दोहरी प्रक्रिया एक सुदीर्घ अवधि की अपेक्षा रखती है। अतः कहा जा सकता है कि जब भी नवीन मूल्यों का ज्ञान हमें होता है, तो यह नया मूल्य बोध हमारे पूर्ववर्ती मूल्यबोध को पूर्णतः नष्ट नहीं करता।

जीवन— मूल्यों पर देश, काल, परिस्थिति तथा संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि अधिकांश जीवन मूल्य परिवर्तनशील होते हैं। फिर भी चूंकि हर प्रकार के तथा हर स्तर पर हुए परिवर्तन के पश्चात् भी मानव अन्ततः एवं मूलतः मानव ही रहता है, अतः मानवोचित जीवन—यापन की दृष्टि से कुछ जीवन मूल्य शाश्वत होते हैं। सार्थक मानवीय जीवन पद्धति हेतु आवश्यक ऐसे शाश्वत तथा सार्वभौमिक मूल्यों को ही ‘मानवीय मूल्य’ कहा जाता है। उदाहरणार्थ – मानव चूंकि बौद्धिक प्राणी है अतः ज्ञान की खोज स्वयं अपने आप में एक मानवीय मूल्य है।

परिवर्तनशील जीवन मूल्यों के संबंध में कुछ तथ्य ज्ञातव्य है। नये मूल्य मानव—चेतना द्वारा उतनी सहजता से ग्रहण नहीं किये जाते। जितनी सहजता से हम नये ज्ञान को ग्रहण करते हैं। यही कारण है कि भारतीय मानस विज्ञान के इस प्रगति—युग में वैज्ञानिक ज्ञान से चमत्कृत होते हुए भी अपने पारम्परिक मूल्यों की अवहेलना नहीं कर पा रहे हैं। अतः प्राचीन मूल्यों के विस्थापन तथा नये मूल्यों की स्वीकृति की दोहरी प्रक्रिया एक सुदीर्घ अवधि की अपेक्षा रखती है।

अतः कहा जा सकता है कि जब भी नवीन मूल्यों का ज्ञान हमें होता है, तो यह नया मूल्य बोध हमारे पूर्ववर्ती मूल्यबोध को पूर्णतः नष्ट नहीं करता। इसका कारण यह है कि पूर्ववर्ती मूल्यों की उपयोगिता पूर्णरूपेण कभी भी समाप्त नहीं होती। अस्वीकृत मूल्यों के पुनर्जीवन भी संभावना सदैव बनी रहती है। यदि हम मूल्य संबंधी भारतीय चिन्तन का इतिहास देखें, तो उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। जन्मजात मानवीय अधिकारों की प्राप्ति के लिए ‘हिंसा’ को आपनाने का उपदेश यहाँ समय—समय पर दिया गया; आज भी कुछ लोग दे रहे हैं, पर ‘अहिंसा’ एक मानव—मूल्य है, यह बोध, हिंसा के समर्थक तमाम तर्कों के बावजूद भारतीय मानव कभी भी नहीं भूला पाया। इसके प्रमाण हैं गाँधी, जैन धर्मावलम्बी तथा बौद्ध धर्मावलम्बी आदि।

वर्तमान समय में धार्मिक, शैक्षणिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रिय स्तर पर मूल्यों का जो विघटन हो रहा है, वह चिन्तनीय है। इससे भारत की एकता तथा अखंडता तो भंग हो ही रही है, हमारा देश तथा सम्पूर्ण विश्व अमानवीय मूल्यों का रक्त मंच बन गया है। जीवन मूल्यों में परिवर्तन उतना चिन्तनीय नहीं है, जितना मानवीय-मूल्यों का विघटन, क्योंकि मानवीय मूल्यों की अवहेलना एवं तिरस्कार हमें मानव नहीं रहने देता, पूँछविहीन प्राणी की निम्न श्रेणी में वर्गीकृत कर देता है।

वर्तमान जीवन-मूल्यों का अध्ययन, विश्लेषण करने पर निम्नलिखित कारकों का प्रभाव देखते हैं :-

1. जीवन मूल्यों पर वैज्ञानिक उपलब्धियों का प्रभाव ।
2. सांस्कृतिक आदान-प्रदान अथवा सांस्कृतिक समिश्रण का प्रभाव ।
3. परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव ।
4. दोष पूर्ण, शिक्षा-प्रणाली एवं शिक्षकों का अनूत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार ।
5. सृजनात्मक जीवन-मूल्यों के प्रचार में संचार तंत्र की भूमिका ।
6. राजनीतिज्ञों द्वारा विध्वंसात्मक जीवन-मूल्यों की स्थापना ।
7. पतनोन्मुख नैतिक मूल्य ।

अपवादों को छोड़ दिया जाए, तो यहाँ कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति मूलतः धर्म-प्रधान रही है, जबकि पाश्चात्य संस्कृति प्रधानतः इहलौकिका वादी रही है। भारतीय संस्कृति प्रारंभ से ही आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों को सर्वोच्च महत्व देती रही है। यह 'धर्म' और 'मोक्ष' को 'अर्थ' तथा 'काम' से उच्चस्तरीय मानती रही हैं अर्थ और काम का निषेध इसमें नहीं हैं, क्योंकि यह मानव के सर्वांगीण विकास को लक्ष्य मानकर चली है। यही कारण है कि इसमें स्वीकृत चारों पुरुषार्थ चार जीवन-मूल्यों की ओर संकेत करते हैं। 'अर्थ' आर्थिक मूल्य, 'काम' मनोवैज्ञानिक मूल्य, 'धर्म' सामाजिक तथा नैतिक मूल्य तथा 'मोक्ष' आध्यात्मिक मूल्य का संकेतक है। किन्तु आज व्यापक संचार व्यवस्था तथा आवागमन के सहज सुलभ साधनों एवं अन्तर्राष्ट्रिय व्यापार में साझेदारी के कारण हमारी संस्कृति का अन्य संस्कृतियों से संपर्क होने से जिस 'सांस्कृतिक समिश्रण' को अनुभव कर रहे हैं, उसने हमारी मूल्यसंबंधी मान्यताओं को गहराई से प्रभावित किया है। हम पर अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव अत्यधिक व्यापक रूप से पड़ा है।

हमारी संस्कृति ने हमें जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाने की ही शिक्षा दी, और इस दृष्टिकोण ने सदैव हमारे मूल्य-बोध को प्रभावित कर, जीवन-व्यवहार को प्रभावित किया । जैसे आत्मा का अमरत्व तथा कर्म-सिद्धान्त (अर्थात् कर्म के अनुरूप फल की प्राप्ति, यदि इस जीवन में नहीं तो भावी जीवन में) ने हमें सदैव सत्कर्मों, नैतिक या शुभकर्मों के सम्पादन एवं कर्तव्यों के पालन के लिये प्रेरित किया, पर पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में आकर हमने अब जीवन के प्रति भौतिकतावादी दृष्टिकोण अपना लिया, जिससे मूल्य संबंधी हमारे दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया। इस संस्कृति ने 'सर्वसुखउपभोगवाद' की शिक्षा दी और इस तरह धर्म प्रधान भारतीय संस्कृति में 'उपभोक्ता संस्कृति' के वे तत्व प्रविष्ट हो गये जिनके कारण हमारे समाज में 'धन' को सर्वोच्च मूल्य मानकर नव्यधनाढ्य वर्ग तैयार होने लगा, और 'खाओ पियो, मौज करो भले ही अन्य व्यक्तियों की कीमत पर' की दृष्टि विकसित हुई । इसी का प्रमाण है धन तथा सुख-प्राप्ति के लिये की गई हत्याओं, अपहरण तथा बलात्कार की घटनाओं में निरंतर वृद्धि जिसके मूक साक्षी हैं समाज और कानून ।

पाश्चात्य संस्कृति वस्तुतः एक मशीन संस्कृति है, अतः वस्तुनिष्ठता को महत्व देती है। इसका प्रभाव भारतीय मानस पर ऐसा पड़ा कि हम व्यक्ति की, ‘मनुष्य’ की अवहेलना जाने-अनजाने करने लगे हैं। भारतीय संस्कृति सदैव मनुष्य को, उसके मूल स्वरूप को, उसके आंतरिक पक्ष को महत्व देती रही है। जो बाह्य है, वस्तु है, आखिर वह है तो मनुष्य के ही लिये, अतः महत्वपूर्ण है मानव और इसीलिए यह अपने दार्शनिक चिंतन के माध्यम से समस्त मनुष्यों की समानता एवं एकता के मूल्यों का प्रतिपादन करती रही है।

यह सत्य है कि सम्पन्न पाश्चात्य संस्कृति की सापेक्षता में हमारे आर्थिक विकास का स्तर नीचा है, पर हमारी संस्कृति अत्यन्त क्रियाशील, आध्यात्मिक “नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों पर आधारित है, सुखद यह है कि भारत में अब ऐसा प्रबृद्ध वर्ग सामने आ रहा है जो सांस्कृतिक मूल्यों की निष्पक्ष विवेचना कर उनके विधानात्मक पक्ष को युवापीढ़ी के सामने रखने का साहस कर रहा है।

चूँकि पाश्चात्य संस्कृति विज्ञानाधारित है, अतः इसके प्रभाव के साथ हमने विज्ञान की प्रभुता को स्वीकार कर लिया है। जीवन के कल्याण के लिये है जीवन यंत्रों के लिये नहीं। विज्ञान के प्रभाव से ही हम आर्थिक कल्याण और भौतिक सुख को परममूल्य मानने लगे हैं तथा नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों की अवहेलना करने लगे हैं।

आर्थिक शक्ति—सम्पन्न तथा सैनिक शक्ति एवं सत्ता—सम्पन्न को प्रतिष्ठा एवं सम्मान देने की प्रवृत्ति भी उद्योगबहुल पाश्चात्य संस्कृति की ही देन है। इस प्रवृत्ति का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रिय स्तर पर तो पड़ा ही है, हमारे सामाजिक स्तर पर मूल्यों के विघटन के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। आज सद्गुण एवं सत्कर्मी को मूर्ख कहकर अवमानना की जाती है, और उस व्यक्ति को चतुर कहकर प्रशंसा, जो उचित अथवा अनुचित किसी भी तरीके को अपना कर सत्ता तथा शक्ति—सम्पन्न बन जाता है। यदि सामाजिक मूल्य का अर्थ समाज द्वारा मान्यता प्राप्त लक्ष्य से लें, तो स्पष्ट रूप से हम सामाजिक लक्ष्यों में अर्थात्, सामाजिक मूल्यों में बहुत परिवर्तन आज देख रहे हैं। ‘धन’ अर्थात् बाह्य शक्ति आज हमारी वर्तमान पीढ़ी की दृष्टि में मूल्य है जिसे प्राप्त करने के लिये अनैतिक कर्म करने में भी नागरिकों को कोई झिझक नहीं होती। हम अपने सामाजिक क्रिया—कलापों को देखें तो विनोबा की यह उक्ति आज अक्षरशः सही पाते हैं कि आज ‘भ्रष्टाचार शिष्टाचार और सदाचार शिष्टाचार’ हो गया है। निर्धन सदाचारी आज हमारे यहाँ उपहास का पात्र बन गया है।

सामाजिक मानक बदलने से नागरिकों की भूमिकाओं तथा सामाजिक नियंत्रण में भी अन्तर आया है। शारीरिक स्वास्थ्य, दीर्घ, सुखी जीवन, आराम एवं सुविधा संपत्ति, मनोरंजन, उत्पादन, वाणिज्यिक आदि आधुनिक मूल्यों के मध्य हमारा ‘मानव एकता का आदर्श’ बौना हो गया है। इसी खतरे की ओर संकेत करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक ‘सत्य की खोज’ में लिखा था – “हमें उचित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहिये, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न मनुष्य ही पूर्ण मनुष्य न बन जाये”।¹ हम आज धन को सर्वोपरि मूल्य मान कर चल रहे हैं। धन के आगे विद्या तिरस्कृत हो रही है। ऐसे समय भर्तृहरि का श्लोक याद आता है जिसमें उन्होंने कहा है – सद्धिद्या यदि कि धनैरपयशां यद्यपि किं मृत्सुना”।²

सांस्कृतिक आक्रमण के कुप्रभाव से परतंत्र भारत की शिक्षा—प्रणाली भी अछुती नहीं रही, न केवल अंग्रेजी भाषा के शिक्षा—माध्यम ने अपना घातक प्रभाव दिखाया, वरन् पाठ्यक्रम में सम्मिलित पाठ्यसामग्री भी यूरोप तथा पश्चिमी देशों से संबंधित ज्ञान के विभिन्न पक्षों तक ही सीमित होने के कारण, एक लम्बे समय तक हम अपनी सांस्कृतिक धरोहर को जानने से वंचित कर दिये गये। परिणाम स्वरूप दीर्घकाल तक भारतीय विद्यार्थी अपने सांस्कृतिक का ज्ञान प्राप्त करता रहा। यद्यपि ब्रिटिश शासकों के इस पक्षपातपूर्ण रवैये के प्रति सजग भारतीय चिंतकों ने आवाज

उठाई पर परतन्त्र भारत में उसका अपेक्षित प्रभाव कम ही पड़ा तथापि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र, दयानंद आदि कुछ शिक्षा शास्त्रियों ने अपने विचारों को कार्यरूप में परिणित करने में सफलता प्राप्त की। वस्तुतः शासक राष्ट्र की संस्कृति सदैव यहां दावा करती है कि वह विजित देश की संस्कृति से श्रेष्ठ है। ब्रिटिश शासकों ने अपने व्यवहार द्वारा इस मान्यता को पुष्ट किया, किन्तु दुःखद यह है कि अंग्रेजों ने जिस उद्देश्य से हमें शिक्षित किया, तथा जो शिक्षा पद्धति अपनाई, स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्षों बाद भी हम प्रायः उसी को अपनाये हुए हैं। उन्हें प्रशासन के लिए क्लर्क एवं अन्य अधीनस्थ कर्मचारी चाहिये थे। आत्मविश्वासी, विद्यावान, विवेकशील, स्वतंत्र नागरिक नहीं। यही कारण है कि पुनर्जागरण काल में विवेकानंद ने शिक्षा का उद्देश्य समझाते हुए चरित्र निर्माण एवं आत्म-विकास को महत्ता दी थी³। रवीन्द्रनाथ ने ‘व्यक्तित्व की पूर्णता’ को एक शैक्षणिक मूल्य घोषित करते हुए शिक्षा में सांस्कृतिक परिवेश का महत्त्व प्रतिपादित किया था। महात्मा गांधी ने चरित्र निर्माण के साथ ‘स्वावलंबन’ को शिक्षा का लक्ष्य बताया। आध्यात्मिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्तियों के विकास को महत्त्व दिया। गाँधी और दयानंद दोनों ने जनतंत्रीय आदर्शों एवं नैतिक शिक्षा को महत्त्व दिया। केवल ‘साक्षरता’ को शिक्षा किसी भी भारतीय चिंतक ने नहीं माना। श्री अरविंद ने भी सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा के महत्त्व को समझाया। कोई भी ऐसा भारतीय चिंतक नहीं हुआ जिसने सर्वांग शिक्षा को महत्त्व न दिया हो, पर हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति ब्रिटिश शिक्षा-पद्धति का ही संशोधित रूप बनकर रह गई है। ज्ञान-प्राप्ति, चरित्र निर्माण, अन्तर्दृष्टि का विकास स्वतंत्रता आदि किसी भी मूल्य को महत्त्व न देकर, आज यह प्रायः नौकरी के लिये डिग्रीयाँ देने का कार्य कर रही हैं।

आज उन मानव-मूल्यों एवं सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा की अत्यंत आवश्यकता है, जो मनुष्य को मानवोचित आचार-व्यवहार के योग्य बना सकें। इस प्रयास में संचार-तंत्र तथा शिक्षालय सर्वाधिक सहायक सिद्ध हो सकते हैं। रेडियो, फिल्म, समाचार-पत्र तथा टेलिविजन आदि सामूहिक सामाजिक शिक्षा के सशक्त माध्यम हैं। इसके अतिरिक्त, शिक्षालयों के माध्यम से भारतीय नागरिकों को विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों से अवगत कराया जाना चाहिए। विवके जागृत करना तथा मानवीय संवेदनाओं का परिष्कार कर, मानवीय चेतना का विस्तार करना शिक्षा का अन्य लक्ष्य होना चाहिए। विद्यालयों द्वारा बाल्यावस्था से ही महापुरुषों की जीवन-गाथाओं के माध्यम से मानव मूल्यों की शिक्षा दी जानी चाहिए। साथ ही यह प्राध्यापकों का दायित्व है कि वे जिन मूल्यों की शिक्षा दें, उनका आदर्श स्वयं प्रस्तुत करें, जिससे प्रदत्त शिक्षा का सुप्रभाव शिक्षार्थी के व्यक्तित्व पर पड़े।

इस तरह संचार तंत्र तथा विद्यालय आदि अपनी समुचित भूमिकाओं का निर्वाह पूर्ण रूप से करें, तो मानव-मूल्यों के विघटन पर अंकुश लगाया जा सकता है।

संदर्भ सूची –

1. प्रो. दयाकृष्ण, विज्ञान तकनीति एवं मूल्य डायोजिनीस
2. डॉ. राधाकृष्णन, सत्य की खोज पृ. 20
3. भर्तृहरि, नीतिशतक, श्लोक संख्या 55
4. क्लैवटेड वर्क्स, मायावती मेमोरियल एडिशन, वोल्यूम 3, पृ. 301
5. दयानंद, सत्यार्थ प्रकाश

ग्रन्थ सूची –

नैतिक चिन्तन के आयाम डॉ. छाया राय